Journal of Advances in Developmental Research (IJAIDR)

E-ISSN: 0976-4844 ● Website: www.ijaidr.com ● Email: editor@ijaidr.com

हिंदी साहित्य में मजदूर चेतना: वर्गीय असमानता और सामाजिक न्याय की अभिव्यक्ति

डॉ. वंदना

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी,
राजकीय महिला महाविद्यालय, बदायूं

हिन्दी साहित्य की विकास-यात्रा केवल शब्दों का संचयन नहीं है बल्कि यह भारतीय समाज की धड़कनों संघर्षों और आकांक्षाओं का एक जीवंत दस्तावेज़ है । साहित्य और समाज का संबंध इतना घनिष्ठ है कि साहित्य को समाज का दर्पण और समाज को साहित्य का आधार माना जाता है। जब समाज प्रगति करता है और स्वस्थ जीवन-मूल्यों की स्थापना होने लगती है तो साहित्य में भी सौहार्द्र और आपसी तालमेल बढ़ने लगता है यही वह समय होता है जब व्यक्ति अपने स्वार्थ से ऊपर उठकर दूसरों के हित की भावना से भर जाता है। साहित्य,समाज, धर्म और संस्कृति का यह अंतर्संबंध समाज के उत्थान के लिए अनिवार्य है क्योंकि जब साहित्य व्यापक चिंतन और श्रेष्ठतम विचारों को अभिव्यक्त करता है तभी संस्कृति भी व्यापक और मानवीय हो पाती है। इस विस्तृत फलक पर मज़दूर चेतना का उदय एक ऐसी क्रांतिकारी परिघटना रही है जिसने साहित्य के केंद्र को अभिजात वर्ग के महलों से हटाकर खेतों, खलिहानों और कारखानों की धूल-धूसरित गलियों में ला खड़ा किया। हिन्दी साहित्य में मज़दूर चेतना का विकास वर्गीय असमानता के विरुद्ध एक बौद्धिक विद्रोह और सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए एक अनवरत संघर्ष की कहानी है। मजदूर विमर्श के सैद्धांतिक धरातल को समझने के लिए कार्ल मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद और वर्ग संघर्ष के सिद्धांत को आधार बनाना अनिवार्य है। हिन्दी साहित्य में इस विचारधारा का प्रवेश 'प्रगतिवाद' के माध्यम से हुआ जहाँ मार्क्स के 'उजरती श्रम और पूँजी' तथा 'मजदूर दाम और मुनाफा' जैसे सिद्धांतों ने भारतीय लेखकों को शोषण की यांत्रिकी को समझने की एक नई दृष्टि प्रदान की। इन सिद्धांतों के अनुसार पूँजीवादी व्यवस्था में श्रमिक अपनी श्रम-शक्ति को एक माल के रूप में बेचता है और पूँजीपति उस श्रम से अर्जित अतिरिक्त मूल्य को स्वयं हड़प लेता है जिससे वर्ग संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है। मार्क्सवादी आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा ने अपनी विभिन्न पुस्तकों जैसे 'मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य' और 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ' में इस बात पर बल दिया है कि साहित्य का उद्देश्य केवल मनोरंजन नहीं बल्कि शोषित वर्ग की चेतना को जागृत करना और उन्हें उनके अधिकारों के प्रति सचेत करना है। उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि प्रगतिशील साहित्य वही है जो सर्वहारा वर्ग के जीवन संघर्ष को यथार्थवादी ढंग से प्रस्तुत करता है।

मज़दूर चेतना का अर्थ केवल श्रमिकों की समस्याओं की पहचान करना नहीं है बल्कि उनके प्रति एक मानवीय और वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित करना तथा उन्हें समाज के सक्रिय निर्माता के रूप में पहचान दिलाना है। भारतीय संदर्भ में वर्ग की अवधारणा और उससे जुड़ी चेतना का विकास औपनिवेशिक काल की आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों की उपज है। भारत में वर्ग की आधुनिक अवधारणा मौलिक नहीं थी क्योंकि यहाँ सदियों से वर्ण और जाति की व्यवस्था प्रभावी रही है। वर्ग की इस आधुनिक यूरोपीय अवधारणा का प्रवेश भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के साथ हुआ। ऐतिहासिक रूप से वर्ग का उदय सोलहवीं शताब्दी में फ्रांस के बुर्जुआ वर्ग के साथ हुआ था जो सामंतों और किसानों के बीच उभरा। भारत में इसी तर्ज पर उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में एक नया शिक्षित मध्यवर्ग और भूमिहीन मज़दूर वर्ग अस्तित्व में आया। ब्रिटिश काल में अनाज और ज़मीन की कीमतों में वृद्धि ने जहाँ भू-स्वामियों को समृद्ध किया वहीं भूमिहीन किसानों और पारंपरिक कारीगरों को हाशिए पर धकेल दिया। यही वह जड़ विहीन वर्ग था जिसने अपनी आजीविका की तलाश में शहरों की ओर पलायन किया और औद्योगिक सर्वहारा की नींव रखी।

प्राचीन और मध्यकालीन समय में भारत में मज़दूरों को पशुओं की भाँति बंधक बनाकर प्रताड़ित किया जाता था जिसका एक विख्यात उदाहरण ताजमहल के निर्माण के बाद मज़दूरों के हाथ काट दिए जाने की किंवदंती है।

भारतीय समाज में सामाजिक न्याय की चुनौती तब और जटिल हो गई जब पारंपरिक वर्ण व्यवस्था ने आधुनिक वर्ग व्यवस्था का रूप ले लिया। भारत में जो समुदाय पारंपरिक रूप से निम्न वर्ण (दलित, आदिवासी और पिछड़े) में थे वही आधुनिक आर्थिक ढांचे में निम्न वर्ग के रूप में परिवर्तित हो गए। यह संक्रमण केवल आर्थिक नहीं बल्कि सांस्कृतिक भी था। जहाँ एक ओर मध्यवर्ग सामाजिक प्रतिष्ठा और आधुनिकता के बीच झूल रहा था वहीं मज़दूर वर्ग अपनी मानवीय गरिमा और रोटी की बुनियादी लड़ाई लड़ रहा था। साहित्य ने इस संक्रमण को पहचाना और यह उद्घाटित किया कि जातिगत भेदभाव ही अक्सर आर्थिक विषमता का मूल कारण बनता है। सामाजिक न्याय की प्राप्ति के लिए इस संरचनात्मक असमानता को तोड़ना अनिवार्य था और हिन्दी साहित्य इसी प्रतिरोध का वैचारिक हथियार बना। हिन्दी साहित्य में मज़दूर चेतना का समावेश अचानक नहीं हुआ बल्कि यह विभिन्न साहित्यिक आंदोलनों के साथ परिपक्व हुआ। भारतेन्दु युग में नवजागरण की चेतना के साथ पहली बार साहित्य ने सामाजिक यथार्थ के प्रति अपनी प्रतिबद्धता दिखायी जहाँ समाज सुधारकों ने कुरीतियों के विरुद्ध स्वर उठाया।

डॉ. रामविलास शर्मा ने 'भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास-परम्परा' में स्पष्ट किया है कि भारतेन्दु युग हिन्दी साहित्य का सबसे जीवंत युग रहा है। इस युग के रचनाकार अपनी जनता की आशा-आकांक्षाओं से गहराई से जुड़े थे। भारतेन्दु ने स्वयं अंग्रेजी राज की आर्थिक नीतियों की आलोचना करते हुए भारतीय श्रम की रक्षा के लिए स्वदेशी की मांग की थी। भारतेन्दु युग का साहित्य जनवादी इस अर्थ में है कि वह भारतीय समाज के पुराने ढांचे से संतुष्ट न रहकर उसमें सुधार चाहता है। यह केवल राजनीतिक स्वाधीनता का साहित्य नही बल्कि मनुष्य की एकता और समानता का भी साहित्य है। भारतेन्दु के समय में ही यह महसूस किया जाने लगा था कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने भारत की पारंपरिक उत्पादन व्यवस्था को नष्ट कर दिया है जिससे किसान और दस्तकार मजदूर बनने के लिए विवश हुए है।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और पंडित माधव राव सप्रे वे अग्रणी व्यक्तित्व थे जिन्होंने मज़दूरों की संगठनात्मक शक्ति को पहचाना। द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से मज़दूरों के हित में निरंतर लेख लिखे और वर्ष उन्नीस सौ सात में सप्रे जी का लेख 'हड़ताल' प्रकाशित किया जो मज़दूरों के स्वत्व की रक्षा के अधिकार का प्रबल समर्थन करता था। द्विवेदी जी की पुस्तक 'संपत्ति शास्त्र' ने आर्थिक समस्याओं का वैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए मज़दूरों के संगठन पर ज़ोर दिया। उन्होंने स्पष्ट किया कि ब्रिटिश शासन के कारण जमीन के असली मालिक अंग्रेज हो गए हैं और भारतीय किसान की हैसियत केवल भाड़े पर खेती करने वाले श्रमिक जैसी हो गई है। द्विवेदी युग ने ही निराला और प्रेमचंद जैसे लेखकों के लिए वह वैचारिक जमीन तैयार की जिस पर आगे चलकर प्रगतिवाद की भव्य इमारत खड़ी हुई।

हिन्दी कथा साहित्य में मुंशी प्रेमचन्द वे पहले आधुनिक उपन्यासकार थे जिन्होंने ऐय्यारी और तिलिस्मी घटनाओं का मोह त्यागकर जनजीवन को उसकी संपूर्णता में देखा। उन्होंने दिखाया कि किस प्रकार सामंती मूल्य और ऋण की व्यवस्था एक स्वाभिमानी किसान को मज़दूर बनने पर विवश कर देती है। 'गोदान' में होरी का जीवन उस ग्रामीण त्रासदी का हिस्सा है जहाँ धर्म और समाज के ठेकेदार मिलकर एक व्यक्ति का सब कुछ छीन लेते हैं। डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार, प्रेमचंद ने होरी को एक व्यक्ति चरित्र से उठाकर 'वर्ग चरित्र' बना दिया। 'गोदान' में कर्ज वह मेहमान है जो एक बार आकर फिर जाने का नाम नहीं लेता। 'कफ़न' और 'पूस की रात' जैसी कहानियों में प्रेमचन्द ने उस चरम दरिद्रता का चित्रण किया है जहाँ भूख मानवीय संवेदनाओं को नष्ट कर देती है। प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों के माध्यम से पूँजीवादी व्यवस्था को बेनकाब किया और यह स्थापित किया कि समाज में आदमी की पहचान संपत्ति और जाति के पैमाने से नहीं होनी चाहिए।

प्रगतिवाद ने स्पष्ट रूप से मार्क्सवादी विचारधारा को आधार बनाया और घोषणा की कि नया साहित्य भूख, गरीबी, सामाजिक पिछड़ापन और राजनीतिक गुलामी जैसी बुनियादी समस्याओं से टकराएगा। प्रगतिशील घोषणापत्र के

अनुसार, साहित्य को उन शोषक वर्गों को बेनकाब करना था जो दूसरों के श्रम का लाभ उठाते हैं। हिन्दी कविता ने मज़दूरों के श्रम, पसीने और उनके प्रति हो रहे अन्याय को अत्यंत प्रभावशाली बिंबों के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। सूर्यकांत त्रिपाठी निराला ने अपनी प्रसिद्ध कविता 'तोड़ती पत्थर' के माध्यम से मज़दूर वर्ग की पीड़ा और स्त्री श्रम की अनदेखी को समाज के सामने रखा। निराला ने इसमें पत्थर तोड़ती मज़दूरिन के श्याम तन और नत नयन की तुलना सामने खड़ी वैभवशाली अट्टालिका से की है, जो उस सामाजिक विभाजन को स्पष्ट करता है जहाँ एक वर्ग वैभव में जी रहा है और दूसरा तपती दुपहरी में श्रम करने को अभिशप्त है। सुमित्रा नंदन पंत ने भी अपनी कविता 'युगवाणी' में यह संदेश दिया कि मानवता को श्रेणी और वर्ग में विभाजित नहीं होना चाहिए और जन-श्रम का शोषण धन-बल के आधार पर नहीं होना चाहिए।

गजानन माधव मुक्तिबोध एक वर्ग-चेतना संपन्न मार्क्सवादी कवि रहे हैं, जिन्होंने पूँजीवादी समाज और उसकी अंध-संस्कृति की तीखी आलोचना की है। उनकी कविता 'पूँजीवादी समाज के प्रति' शोषक वर्ग के प्रति तीव्र घृणा और क्रोध को व्यक्त करती है। मुक्तिबोध का मानना था कि पूँजीवाद एक ऐसी व्यवस्था है जो मानवीय श्रम का शोषण कर अपना वैभव खड़ा करती है। उनकी कालजयी कविता 'अंधेरे में' स्वतंत्र भारत के उस मोहभंग का दस्तावेज़ है जहाँ स्वतंत्रता सेनानी तो अंधेरे में खो गए और अवसरवादी वर्ग रोशनी में आ गया। मुक्तिबोध ने मज़दूरों के दैनिक जीवन की वस्तुओं जैसे कण्डे, टिक्कड़, बल्लम और तगारी को काव्य प्रतीकों के रूप में इस्तेमाल किया। वे मानते थे कि जब तक बुद्धिजीवी वर्ग मज़दूरों के संघर्ष से नहीं जुड़ेगा, तब तक कोई वास्तविक सामाजिक परिवर्तन संभव नहीं है।

नागार्जुन आजीवन शोषित और पीड़ित वर्ग के प्रति प्रतिबद्ध रहे। उनकी कविता 'अकाल और उसके बाद' भुखमरी की विभीषिका का चित्रण करती है, जहाँ चूल्हा रोता है और चक्की उदास रहती है। नागार्जुन ने 'शासन की बंदूक' जैसी कविताओं के माध्यम से सत्ता के दमनकारी चरित्र को बेपर्द किया और नारा दिया कि "जिसका जांगर उसकी धरती", यही हमारा असली लक्ष्य होना चाहिए। केदारनाथ अग्रवाल ने भी मज़दूरों के संघर्ष के साथ-साथ उनके श्रम के सौंदर्य को अपनी कविताओं में उकेरा और एक ऐसे वर्गहीन समाज का स्वप्न देखा जहाँ जनता सस्वर गीत गाएगी। केदारनाथ अग्रवाल ने 'हथौड़े का गीत' और 'कानपुर' जैसी कविताओं के माध्यम से औद्योगिक जीवन की कठोरता और मजदूरों के अदम्य साहस को व्यक्त किया है।

मैनेजर पाण्डेय जैसे शीर्षस्थ आलोचकों ने मजदूर विमर्श को एक नया समाजशास्त्रीय आयाम दिया है। उनकी पुस्तक 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका' इस विषय पर सबसे महत्वपूर्ण अकादमिक ग्रंथ माना जाता है। पाण्डेय जी का मानना है कि साहित्य की सार्थकता उसकी सामाजिक अस्मिता की पहचान में है। उन्होंने प्रतिपादित किया कि आलोचना एक विचारधारात्मक गतिविधि है जो समाज के द्वंद्वों से सीधे संवाद करती है। उन्होंने पूँजीवाद द्वारा संस्कृति के निजीकरण के विरुद्ध 'आलोचना की सामाजिकता' को एक सशक्त प्रतिरोध के रूप में प्रस्तुत किया। पाण्डेय जी के अनुसार, रचना के केंद्र में स्थित समाज और विचार से अगर आलोचना की टकराहट नहीं है, तो वह आलोचना नहीं है। उन्होंने सूरदास को वात्सल्य और भक्ति के संकुचित दायरे से बाहर निकालकर उन्हें किसान जीवन और श्रम की गरिमा से जोड़ने का ऐतिहासिक कार्य किया।

हिन्दी नाटकों और रंगमंच ने भी मजदूर विमर्श को जन-जन तक पहुँचाने में क्रांतिकारी भूमिका निभाई है। सफदर हाशमी और उनके संगठन 'जन नाट्य मंच' ने नुक्कड़ नाटक को शोषित वर्गों की आवाज़ बनाया। सफदर का मानना था कि रंगमंच केवल मनोरंजन का साधन नहीं बल्कि एक क्रांतिकारी उपकरण है जो समाज के शोषणकारी ढांचे को बदलने की क्षमता रखता है। उनके नाटकों 'मशीन' और 'हल्ला बोल' ने मजदूर आंदोलनों में नई ऊर्जा भरी। में उनकी हत्या के बाद भी उनका विचार आज भी सामाजिक संघर्षों में प्रेरणा का स्रोत बना हुआ है। भीष्म साहनी के नाटक 'कबिरा खड़ा बजार में' भी बाजारवादी और दमनकारी शक्तियों के विरुद्ध कबीर के प्रतिरोध के माध्यम से श्रमिक चेतना को रेखांकित करते हैं। भीष्म साहनी के नाटकों में वह बाजार केवल माल बेचने का केंद्र नहीं है, बल्कि वह सामाजिक और धार्मिक गतिविधियों को नियंत्रित करने वाली सत्ता का केंद्र है।

भारतीय समाज में मज़दूर चेतना को दलित चेतना से अलग करके नहीं देखा जा सकता, क्योंकि अधिकांश श्रमिक वर्ग सामाजिक रूप से बहिष्कृत समुदायों से ही आता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की रचनाओं में दलित जीवन का यथार्थ और उनके भीतर उठता प्रतिरोध स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। उनकी आत्मकथा 'जूठन' जातिगत भेदभाव और श्रम के अपमान का एक दस्तावेज़ है, जो यह स्पष्ट करता है कि जब तक जातिगत भेदभाव समाप्त नहीं होते, तब तक सामाजिक न्याय अधूरा रहेगा। समकालीन दलित कहानियाँ अब केवल पीड़ा का दस्तावेज़ नहीं हैं, बल्कि वे सामाजिक परिवर्तन का एक घोष-पत्र बन चुकी हैं जो श्रम-सम्मान और लोकतांत्रिक मूल्यों को रेखांकित करती हैं। अमरकांत की कहानियाँ भी इसी दिशा में महत्वपूर्ण हैं, जहाँ 'बहादुर' जैसी कहानियाँ घरेलू नौकर के श्रम के अपमान को रेखांकित करती हैं।

इक्कीसवीं सदी के वैश्वीकरण, निजीकरण और उदारीकरण ने मज़दूर वर्ग के सामने नई और विकराल चुनौतियाँ पेश की हैं। आधुनिक मशीनीकरण ने उत्पादन तो बढ़ाया है लेकिन इसने लाखों हाथों से काम छीन लिया है जिससे बेरोज़गारी बढ़ी है । मधु कांकरिया के उपन्यास 'पत्ताखोर' में यह दिखाया गया है कि कैसे कॉर्पोरेट जगत ने असुर जनजाति जैसे पारंपरिक कारीगरों की आजीविका छीन ली और उन्हें छोटे-मोटे कामों के लिए मजबूर कर दिया। महुआ माजी का उपन्यास 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' झारखंड की खदानों में काम करने वाले आदिवासी मजदूरों के जीवन का प्रामाणिक दस्तावेज है, जो यूरेनियम खनन के कारण होने वाले गंभीर स्वास्थ्य खतरों और अमानवीय शोषण का चित्रण करता है। लेखिका ने स्पष्ट किया है कि कैसे कॉर्पोरेशन द्वारा नियुक्त मजदूरों को सड़ा हुआ अनाज दिया जाता था और उनकी सुरक्षा की कोई व्यवस्था नहीं थी ।

अश्विनी कुमार पंकज का उपन्यास 'माटी माटी अरकाटी' गिरमिटिया मजदूरों के इतिहास और उनके वर्तमान संघर्ष को जोड़ता है। यह उपन्यास उपनिवेशवाद के दौरान भारत से अन्य देशों में भेजे गए मजदूरों की त्रासद स्थिति को उकेरता है जहाँ नायक कोंता के माध्यम से बँधुआपन और अस्वतंत्रता के उन पक्षों को सामने रखा गया है जो अक्सर इतिहास के पन्नों में दब जाते हैं। प्रवासी और गिरमिटिया मजदूर विमर्श यह बताता है कि कैसे इन मजदूरों ने अपनी मातृभूमि से दूर रहकर भी अपनी भाषा और संस्कृति को जीवित रखा क्योंकि उनका मानना था कि "यदि भाषा गई तो संस्कृति भी समाप्त हो जाएगी"।

स्वतंत्रता के बाद के भारत में श्रमिक आंदोलन और साहित्य का संबंध अत्यंत महत्वपूर्ण रहा है। सार्वजनिक क्षेत्र के मजदूरों ने संगठित होकर कई बार अपनी शक्ति का प्रदर्शन किया, लेकिन उदारीकरण के दौर में असंगठित क्षेत्र के बढ़ने से यूनियनें कमजोर हुई हैं। उदारीकरण ने पूँजी की तुलना में श्रमिकों की सौदेबाजी की स्थिति को खराब कर दिया है और नियोक्ताओं को 'हायर एंड फायर' का पूरा अधिकार दे दिया है। चित्रा मुद्गल के उपन्यास 'आँवा' में बंबई के मजदूर वर्ग के संघर्षों और मजदूर आंदोलनों की सीमाओं का सजीव वर्णन मिलता है। यह उपन्यास नारी सरोकारों और मजदूर विमर्श का एक अनूठा संगम है जहाँ पूँजीवादी व्यवस्था के क्रूर चेहरों को बेनकाब किया गया है।

मजदूर वर्ग के स्वास्थ्य का संकट भी समकालीन विमर्श का एक अनिवार्य हिस्सा है। 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' और 'पत्ताखोर' जैसे उपन्यासों में मजदूरों के स्वास्थ्य संबंधी संकटों को प्रमुखता से उठाया गया है। पूँजीपति वर्ग अधिकतम मुनाफे के लिए कार्यस्थल की सुरक्षा और स्वच्छता की अनदेखी करता है, जिससे मजदूर टीबी, मलेरिया और जल-जनित रोगों के शिकार होते हैं । महामारियों के दौरान इन मजदूरों की बेबसी ने इस आधुनिक विकास की नींव की अमानवीयता को पूरी दुनिया के सामने उजागर कर दिया।

हिन्दी साहित्य में मज़दूर चेतना का विकास वर्गीय असमानता के विरुद्ध एक शाश्वत प्रतिरोध है। साहित्यकार का अपने समय की समस्याओं के प्रति जागरूक होना ही वास्तविक सामाजिक चेतना है। साहित्य न केवल समाज का दर्पण है बल्कि उसे दिशा देने वाला एक वैचारिक हथियार भी है। प्रेमचन्द से लेकर मुक्तिबोध नागार्जुन और समकालीन रचनाकारों तक साहित्य में सामाजिक चेतना का निरंतर विकास दिखाई देता है जो पाठक को बदलाव की दिशा में प्रेरित करता है।

निष्कर्षत: भारतीय समाज में वर्ण का वर्ग में रूपांतरण होने के बावजूद शोषक और शोषित के समीकरण लगभग स्थिर रहे हैं। सामाजिक न्याय की प्राप्ति के लिए केवल कानूनी प्रावधान पर्याप्त नहीं हैं बल्कि इसके लिए एक व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना की आवश्यकता है।

हिन्दी साहित्य अपनी यथार्थवादी परंपरा और प्रगतिशील मूल्यों के माध्यम से समाज की संरचनाओं को प्रश्नांकित करता है और एक ऐसे शोषणमुक्त समाज का स्वप्न देखता है जहाँ श्रम का सम्मान हो। जब तक समाज में विषमता और शोषण रहेगा हिन्दी साहित्य का यह विद्रोही और चेतना-संपन्न स्वर गूँजता रहेगा। भविष्य का मजदूर विमर्श संभवतः असंगठित क्षेत्र के अनछुए पहलुओं को अपनी कथावस्तु का हिस्सा बनाएगा लेकिन उसका मूल स्वर आज भी वही रहेगा श्रम की प्रतिष्ठा और शोषण का विरोध। यह विमर्श याद दिलाता है कि साहित्य की सार्थकता शोषित के पक्ष में खड़े होने और उसे अपनी आवाज़ देने में ही निहित है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. डॉ. रामविलास शर्मा, 'प्रेमचंद और उनका युग', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
2. डॉ. रामविलास शर्मा, 'भारतेन्दु-युग और हिन्दी भाषा की विकास-परंपरा', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
3. मैनेजर पाण्डेय, 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।
4. मैनेजर पाण्डेय, 'साहित्य और इतिहास दृष्टि', अरुणोदय प्रकाशन, दिल्ली।
5. नामवर सिंह, 'वाद विवाद संवाद', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
6. सुकोमल सेन, 'भारत का मजदूर वर्ग', अकादमिक संदर्भ।
7. महुआ माजी, 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ', राजकमल प्रकाशन, 2012।
8. अश्विनी कुमार पंकज, 'माटी माटी अरकाटी', राधाकृष्ण प्रकाशन, 2016।
9. मधु कांकरिया, 'पत्ताखोर', राजकमल प्रकाशन, 2005।